बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 11 अंक 296

# परंपरा का पालन

**राष्ट्रीय** जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकार राजकोषीय जवाबदेही को लेकर अत्यंत सावधान रही है। पिछले आम बजट में थोड़ी चूक के बावजूद वह अपने पूरे कार्यकाल के दौरान राजकोषीय सुदृढ़ीकरण के अपने लक्ष्य को लेकर प्रतिबद्ध बनी रही। यह सरकार के लिए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और उसे कार्यकाल के अंतिम महीनों में लोकलुभावन कदम उठाकर या चुनावी दबाव के चलते अपना पुराना रिकॉर्ड खराब नहीं करना चाहिए। देश में उच्च वृद्धि का व्यापक और स्थायी आधार तैयार करने के लिए हमें देश में निजी निवेश में सुधार सुनिश्चित करना होगा। इस क्रम में राजकोषीय सुदृढ़ीकरण अत्यंत अहम है। ऐसा करके ही यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्र का कर्ज अन्य क्षेत्रों को बाहर न करे तथा पूंजी के अन्य उत्पादक केंद्र प्रभावित न हों। बहरहाल, बेहतर यह है कि राजकोषीय फिसलन या चूक को येनकेन प्रकारेण छिपाने के स्थान पर उसकी स्पष्ट घोषणा कर दी जाए। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक ने इस महीने के आरंभ में संसद को जो रिपोर्ट पेश की उसमें आरोप लगाया गया कि सरकार उस व्यय को दूसरी जगह स्थानांतरित कर रही है जो पहले बजट प्रक्रिया का हिस्सा हुआ करते थे। बजट से इतर इन क्षेत्रों में सरकारी उपक्रमों की उधारी भी शामिल है। उदाहरण के लिए सरकारी विमानन कंपनी एयर इंडिया की मदद करने में बजट सहायता का प्रयोग नहीं किया गया जबकि अतीत में ऐसा किया जाता था। इसके स्थान पर अल्प बचत फंड का इस्तेमाल किया गया। यह स्पष्ट होना चाहिए कि राजकोषीय घाटे के आंकड़ों के साथ किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ के प्रयास को इस दृष्टि से देखा जाएगा। देश के राजकोषीय अंकगणित की विश्वसनीयता, राजकोषीय सुदृढ़ीकरण के लक्ष्य को हासिल करने से कहीं ज्यादा अहमियत रखती है। बजट के आंकड़ों में राजकोषीय विसंगति नहीं आनी चाहिए। बल्कि इसमें वास्तविक हालात की एक स्पष्ट और पारदर्शी तस्वीर पेश की जानी चाहिए।

यह बात भी अहम है कि चुनाव के पहले पेश किए जाने वाले अंतरिम बजट में कोई बड़ा बदलाव लाने के बजाय उसे लेखानुदान की भांति पेश किए जाने की पुरानी परंपरा का भी ध्यान रखा जाए। चुनाव में ज्यादा वक्त नहीं बचा है, ऐसे में कुछ समय बाद संसद भंग होने के पहले बड़ा नीतिगत निर्णय करना संवैधानिक संस्थान के लिए भी संतोषप्रद नहीं होगा। यही कारण है कि पिछली सरकारों ने भी मोटे तौर पर ऐसा करके अपने उत्तराधिकारियों के हाथ बांधने से परहेज ही किया। अगर सरकार दोबारा चुनाव जीतने को लेकर आश्वस्त हो तो भी उसे ऐसे किसी भी बदलाव से परहेज करना चाहिए जिसके लिए उसे चुनाव के बाद संसद की मंजूरी लेने की आवश्यकता पड़ती हो। भले ही सरकार का पुन: निर्वाचित होना तय हो। उदाहरण के लिए वर्ष 2014 के आम चुनाव के पहले प्रस्तुत किए गए अंतरिम बजट में राजकोषीय समावेशन के लक्ष्य का कड़ाई से पालन किया गया था। उससे पहले 2009 के चुनाव में तत्कालीन वित्त मंत्री ने भी अपने भाषण में कोई भी नई घोषणा करने से परहेज किया था। हालांकि वह पहले कृषि ऋण माफी की घोषणा कर चुके थे। वर्ष 2004 के चुनाव के पहले कराधान में कोई बड़ा बदलाव नहीं किया गया था। हालांकि कुछ प्रक्रियाओं को आसान अवश्य किया गया था। व्यय से जुड़ी किसी नई घोषणा को भी बजट भाषण में स्थान नहीं दिया गया था। हालांकि पहले से चल रहे कार्यक्रमों का दायरा बढ़ाया गया था।

इस सरकार को भी द्विपक्षीय सहमति वाले इस सिद्धांत पर टिके रहना चाहिए। अगर सरकार दोबारा चुनकर आती है तो भी व्यय घोषणाओं की उचित जगह बजट नहीं बल्कि उसका चुनावी घोषणापत्र है। सरकार को अधिकार है कि वह चुनावी लाभ वाली योजनाओं के वादे करे लेकिन उसे यह काम सही मंच पर करना चाहिए। उसे देश के फंड का इस्तेमाल करने के पहले इस संबंध में जनादेश हासिल करना चाहिए।

बिनय सिन्हा

# नये युग के प्रबंधन में नदारद मझोले प्रबंधक

## बदलते परिदृश्य में क्या बिजनेस स्कूल मझोले दर्जे के प्रबंधकों की भूमिका नए सिरे से तैयार कर सकते हैं? इस संबंध में विस्तार से जानकारी प्रदान कर रहे हैं **अजित बालकृष्णन**

इन दिनों बिजनेस स्कूलों की मांग इतनी बढ़ी हुई है कि शीर्षस्थ स्कूलों के पास आवेदनों की भरमार हो गई है। वहां बड़े कारोबारी नियोक्ता आते हैं और छात्रों को इतना अधिक शुरुआती वेतन देकर अपने साथ जोड़ रहे हैं जिसे देखकर आंखें फटी की फटी रह जाएं। इस बीच कुछ ऐसे चिंतित करने वाले संकेतकों की अनदेखी करना सहज है जो उनके अस्तित्व के लिए ही समस्या खड़ी कर सकते हैं। हमें नियमित रूप से ऐसी खबरें भी पढ़ने को मिलती हैं कि जनरल इलेक्ट्रिकल जैसे बड़े समूह, बड़ी भारतीय आईटी सेवा कंपनियों, सुपरबाजार शृंखलाओं, आईबीएम और फोर्ड जैसी पुरानी दिग्गज कंपनियों आदि में कर्मचारियों की संख्या कम की जा रही है। यह सूची काफी लंबी है। ऐसे में सवाल उठता है कि आखिर हो क्या रहा है?

बिजनेस स्कूलों के सामने आखिर क्या चुनौती हो सकती है? आखिरकार, सन 1970 के दशक में शुरुआत से लेकर अब तक अच्छे वेतन वाला सम्मानित करियर दिलाने के लिए एमबीए से बेहतर कोई डिग्री नहीं रही है। समाज विज्ञान, मनोविज्ञान अथवा साहित्य या फिर भौतिकी या रसायन जैसे विषय पढ़ने वाले बच्चों को उनके शुभचिंतक यह चेतावनी देते थे कि इन क्षेत्रों में रोजगार पाना आसान नहीं है और वेतन भत्ते भी बहुत अच्छे नहीं रहते। प्रबंधन के स्नातकों के लिए ऐसी कोई समस्या नहीं थी। उन्हें न्यूयॉर्क और लंदन जैसे शहरों में बेहतरीन वेतन वाला रोजगार मिलता और उनका करियर बहुत तेज गति से आगे बढ़ता।

इन दिनों प्रबंधन संस्थानों के समक्ष जो जोखिम है उसे समझने के लिए हमें इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। सदियों से कारोबार चलाने का मतलब होता था कोई दुकान चलाना जहां आप चीजें रखते हैं और ग्राहक उन्हें खरीदते हैं। आज भी दुनिया में और खासतौर पर भारत में कारोबारी का अर्थ मोटे तौर पर दुकान चलाने वाले से ही है। हां यह है कि अब इसमें कई तरह के निर्णय और नीतियां शामिल रहते हैं। मसलन कितनी वस्तुएं रखनी हैं, कितनी छूट देनी है, किसे उधार देना है आदि।

औद्योगिक क्रांति के बाद पश्चिमी देशों में भारी पैमाने पर उत्पादन शुरू हुआ और बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों ने सैकड़ों और हजारों की संख्या में लोगों को रोजगार दिया जबकि छोटी दुकानों में बमुश्किल 4-6 लोगों को रोजगार मिलता था। ऐसे बड़े उपक्रमों में जल्दी ही मालिकों को ऐसे लोगों की जरूरत पड़ने लगी जो इन लोगों का प्रबंधन करने में सहायता कर पाते। ये लोग इन कामगारों को बताते कि उन्हें क्या करना है और यह सुनिश्चित करते कि मूल मालिक की हर बात का सही तरीके से पालन हो। यही वजह थी कि 19वीं सदी से 20वीं सदी में आते-आते बड़ी तादाद में प्रबंधन स्कूलों की बाढ़ आ गई। सन 1908 में शिकागो स्थित नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ कॉमर्स में केलॉग स्कूल ऑफ मैनेजमेंट की स्थापना की गई। उसी वर्ष हार्वर्ड विश्वविद्यालय में हार्वर्ड बिजनेस स्कूल की स्थापना की गई। यह पहला मौका था जब कारोबारी प्रशासन में स्नातकोत्तर डिग्री की शुरुआत की गई। सन 1914 में मैसाच्युसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलजी (एमआईटी) के स्लोअन स्कूल ऑफ मैनेजमेंट की स्थापना की गई। इसके बाद ये स्कूल भारत समेत दुनिया भर में फैल गए। भारत में पहले भारतीय प्रबंध संस्थान की स्थापना कलकत्ता में 1961 में हुई।

तब से अब तक, बल्कि पिछले 150 वर्ष में प्रबंधन का सिद्धांत एक बड़े केंद्रीकृत संस्थान को प्रभावी बनाने और आदेश जारी करने और उनका अनुपालन करने के प्रभावी तरीके पर केंद्रित रहा। यही औद्योगिक युग की पहचान रही। प्रबंधन के कई सिद्धांत इन्हीं पर केंद्रित हैं। मिसाल के तौर पर नियंत्रण का सिद्धांत जो यह बताता है कि एक वरिष्ठ प्रबंधक के अधीन कितने प्रबंधक होने चाहिए। प्रमुख प्रबंधन सिद्धांतकार गैरी हामेल के अनुसार छोटे संगठनों में एक प्रबंधक पर 10 कर्मचारी होने चाहिए। परंतु अगर किसी संगठन में एक लाख कर्मचारी हैं तो वहां 1:10 के अनुपात में भी 11,111 प्रबंधक होंगे क्योंकि प्रबंधकों के प्रबंधन के लिए 1,111 अन्य प्रबंधकों की जरूरत होगी। हार्वर्ड बिजनेस रिव्यू में प्रकाशित एक आलेख के शीर्षक में ही वह कहते हैं कि सबसे पहले सारे प्रबंधकों को हटा दिया जाना चाहिए। वह कहते हैं कि किसी संगठन में प्रबंधन सबसे कम किफायती गतिविधि का नाम है। वह कहते हैं कि टीम लीडर, विभागीय प्रमुख और उपाध्यक्ष हजारों घंटे दूसरों के काम की निगरानी करने में बिता देते हैं। उनके मुताबिक प्रबंधक किसी भी संस्थान के लिए भारी भरकम कर के समान होते हैं जो कई स्वरूपों में हमारे सामने आता है।

इसके बाद धीरे-धीरे नए प्रबंधन सिद्धांत सामने आने लगे जो सीधे तौर पर केंद्रीकृत निर्णय प्रक्रिया से लाभ हासिल करने के इस सिद्धांत को चुनौती देते हैं। उदाहरण के लिए रॉड कॉलिंस कहते हैं कि एक तेज दुनिया का निर्माण हो रहा है जहां डिजिटल क्रांति ने बड़ी तादाद में लोगों के लिए ऐसे अप्रत्याशित अवसर तैयार किए हैं जहां वे प्रत्यक्ष और किफायती अंदाज में किसी संस्थान के लिए काम कर सकते हैं। इस दौरान उन्हें किसी केंद्रीकृत संस्थान के संपर्क में आने की आवश्यकता नहीं है। बिजनेस स्कूल के और बड़े आलोचक डफ मैकडॉनल्ड में 2017 में आई किताब द गोल्डन पासपोर्ट में कहते हैं कि आज के एमबीए कार्यक्रमों की प्रमुख नाकामी यह है कि उन्होंने अपनी अकादमिक भूमिका को समाप्त कर लिया है। जबकि यह भूमिका भविष्य की पीढ़ियों को प्रशिक्षित करने के अलावा आलोचना की जमीन तैयार करने और छात्रों को कारोबार करने के लिए तैयार करने का काम करती थी। इसके विपरीत बिजनेस स्कूलों का काम अब कारोबारी जगत के लिए भर्तियां आउटसोर्स करने का ही रह गया है।

अचानक मझोले दर्जे के प्रबंधकों की भूमिका नकारात्मक मानी जाने लगी है जबकि बीते कुछ दशक के दौरान यह एक अच्छे वेतन वाली सुरक्षित नौकरी मानी जाती थी जहां खुद कोई जोखिम नहीं उठाना होता था। भारतीय मध्य वर्ग ऐसी नौकरी की आकांक्षा रखता था। अगर कोई संस्थान चाहता है कि उसे अग्रसोची माना जाए तो उसके लिए उच्च स्तर और निम्न स्तर के बीच की कड़ियों को कम करना जरूरी है ताकि क्रियान्वयन में किफायत आए और लालफीताशाही कम हो।

क्या बिजनेस स्कूल इस नई हकीकत को स्वीकार करेंगे और अपने पाठ्यक्रम तथा अपनी विचारधारा में तब्दीली लाते हुए अपने छात्रों को यह सिखाएंगे कि उन्हें खुद अपना काम शुरू करना चाहिए, बजाय कि दूसरों की निगरानी करने के।

# व्यक्तिगत कर संग्रह में संप्रग से बेहतर राजग

दिल्ली डायरी

ए के भट्टाचार्य

**प्रधानमंत्री** नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकार द्वारा प्रस्तुत पांच बजट और मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) सरकार के दो कार्यकाल के बजट की तुलना दिलचस्प बातें सामने लाती हैं।

संप्रग-1 के पांच बजट पलनिअप्पन चिदंबरम ने और संप्रग-2 के चार बजट प्रणव मुखर्जी ने तथा एक चिदंबरम ने पेश किए थे। मोदी सरकार के पांचों बजट अरुण जेटली ने पेश किए। उनके पांचवें बजट के संशोधित आंकड़े अभी भी हमारे समक्ष नहीं हैं।

दोनों सरकारों के वित्त मंत्री घाटे को लगाम लगाने के प्रयास में लगे रहे। सब्सिडी के मामले में 2004 से 2008 के बीच चिदंबरम का प्रदर्शन उल्लेखनीय रहा। जसवंत सिंह ने 2003-04 में जीडीपी के 1.6 फीसदी के बराबर सब्सिडी व्यय छोड़ा था जिसे चिदंबरम 2007-08 तक घटाकर 1.4 फीसदी पर ले आए। परंतु यह कमी काफी हद तक लेखा की कवायद की करामात थी। जब फसलों का न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाने तथा आयातित उर्वरकों की जरूरत आन पड़ी तो 2008-09 में जीडीपी में सब्सिडी की हिस्सेदारी बढ़कर 2.35 फीसदी हो गई।

वर्ष 2008-09 के बजट भाषण में चिदंबरम ने कहा, 'मैं स्वीकार करता हूं कि तेल, खाद्य एवं उर्वरक बॉन्ड के मोर्चे पर सरकार की देनदारी फिलहाल सीमा से नीचे है। अंकेक्षण की यह प्रक्रिया पुराने व्यवहार के अनुरूप ही है।'

मुखर्जी सब्सिडी व्यय बढ़ाने को लेकर पारदर्शी थे। जब उन्होंने 2012-13 में अपना अंतिम बजट पेश किया उस वक्त तक जीडीपी में सब्सिडी की हिस्सेदारी बढ़कर 2.59 फीसदी हो चुकी थी। फरवरी 2013 में संप्रग-2 का आखिरी बजट फिर चिदंबरम ने पेश किया और सब्सिडी व्यय को घटाकर जीडीपी के 2.27 फीसदी के स्तर पर ला दिया।

जेटली के पांच बजट में सब्सिडी व्यय में धीमी लेकिन स्थिर गिरावट आई। यह 2014-15 में जीडीपी के 2.07 फीसदी से गिरकर 2018-19 में 1.5 फीसदी पर आ गया। हालांकि 2018-19 के आंकड़ों में संशोधन हो सकता है और कई वजहों से इसमें फिसलन दर्ज की जा सकती है। पिछले 15 वर्ष में कोई भी सरकार सब्सिडी को स्थायी रूप से कम करने में सफल नहीं रही।

रक्षा क्षेत्र में जीडीपी के प्रतिशत व्यय में पिछले डेढ़ दशक में चरणबद्ध गिरावट आई। 2003-04 में जीडीपी के 2.18 फीसदी से कम होकर यह 2018-19 में 1.5 फीसदी रह गया। चिदंबरम और मुखर्जी ने रक्षा व्यय को अपने अपने बजट में क्रमश: 2.4 और 1.8 फीसदी रखा। परंतु जेटली के पांच बजट में इसमें लगभग हर वर्ष कमी आई और यह 1.75 फीसदी से शुरू होकर 1.5 फीसदी तक आ गया। इस मोर्चे पर व्यय को लेकर सरकारों ने कोई तेजी नहीं दिखाई।

इस अवधि में पूंजीगत व्यय में कमी चिंताजनक रही। जसवंत सिंह ने 2003-04 में इसे बढ़ाकर जीडीपी का 3.96 फीसदी कर दिया था। चिदंबरम ने 2004-05 में अपने पहले बजट में इसे 3.6 फीसदी के उच्च स्तर पर रखा लेकिन बाद के बजट में यह कम होकर 2 फीसदी तक आ गया। केवल 2007-08 में यह बढ़कर 2.4 फीसदी हुआ था। मुखर्जी भी पूंजीगत व्यय को केवल एक बार 2010-11 में 2 फीसदी के ऊपर ले जा सके, उनके शेष सभी बजट में यह 1.7 फीसदी रहा। जेटली का मामला भी अलग नहीं था और उनके पांच बजट में पूंजीगत व्यय 1.6 और 1.9 फीसदी के बीच रहा।

कराधान के प्रयास की बात करें तो चिदंबरम ने संप्रग-1 के पहले चार बजट में अच्छा प्रदर्शन किया और सकल कर राजस्व 2003-04 के 9.57 फीसदी से बढ़कर 2007-08 तक 12.11 फीसदी हो गया। वैश्विक वित्तीय संकट के चलते कर रियायत देने के कारण ही संप्रग-1 के अंतिम बजट में चिदंबरम केवल 10.98 फीसदी कर राजस्व जुटा पाए। संप्रग के दूसरे कार्यकाल में यह 10 फीसदी के आसपास रहा। परंतु राजग के अंतिम चार वर्ष में इसमें तेज उछाल आई और इस वर्ष यह 12 फीसदी का आंकड़ा पार कर सकता है। यह बढ़ोतरी मोटे तौर पर प्रत्यक्ष कर में इजाफे की वजह से हुई। बीते 15 साल में कर राजस्व में इसकी हिस्सेदारी 4 फीसदी से बढ़कर 6 फीसदी हो गई जबकि अप्रत्यक्ष कर स्थिर बना रहा।

ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि सीमा शुल्क का योगदान घटा है। संप्रग-1 में यह जीडीपी के 1.8 से 2.1 फीसदी के बीच था। संप्रग के दूसरे कार्यकाल में यह 1.3 फीसदी से 1.8 फीसदी रह गया। जेटली के कार्यकाल में यह 1.5 फीसदी से कम होता हुआ 0.8 फीसदी पर आ गया। अनुमान है कि 2018-19 में यह केवल 0.6 फीसदी रह जाएगा।

निगम कर और व्यक्तिगत आयकर राजस्व के मामले में भी संप्रग के के बजट राजग से अलग थे। जीडीपी में निगम कर राजस्व की हिस्सेदारी लगातार बढ़ी है और वह 2003-04 के 2.31 फीसदी से बढ़कर 2008-09 में 3.9 फीसदी हो गई, 2013-14 में चिदंबरम के दौर में यह पुन: घटकर 3.5 फीसदी हुई। जबकि जेटली के पांच बजट में यह अनुपात निरंतर घटा और 2018-19 में यह 3.3 फीसदी रह गया।

व्यक्तिगत आयकर का मामला इससे अलग है। संप्रग के दोनों कार्यकालों में जीडीपी में इनकी हिस्सेदारी 2 फीसदी से कम रही। केवल दो वर्षों में 2007-08 में यह 2.1 और 2013-14 में 2.12 फीसदी रहा। परंतु राजग के सभी बजट में यह उत्तरोत्तर बढ़ा। 2014-15 के 2.1 फीसदी से बढ़कर यह 2017-18 में 2.62 फीसदी हुआ और 2018-19 में इसके 2.81 फीसदी होने की उम्मीद है।

इससे यही लगता है कि राजग के कार्यकाल में उद्यमी जगत का राजकोष में योगदान संप्रग के कार्यकाल की तुलना में कम हुआ है जबकि आयकर राजस्व ने राजग के कार्यकाल में प्रत्यक्ष कर संग्रह बढ़ाने में अहम भूमिका निभाई। यह बेहतर कर अनुपालन और दायरे में विस्तार की बदौलत हुआ। परंतु क्या केवल इतने स्थायित्व से आने वाले वर्षों में सरकार की राजस्व जरूरतें पूरी हो जाएंगी?

## कानाफूसी

### नहले पे दहला

भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमित शाह ने सोमवार को ओआरओपी (वन रैंक वन पेंशन) को एक नया रूप देते हुए कहा कि कि कांग्रेस के लिए ओआरओपी का मतलब है वन राहुल, वन प्रियंका। हिमाचल प्रदेश के हमीरपुर में भाजपा के पन्ना प्रमुख सम्मेलन को संबोधित करते हुए शाह ने कहा कि नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली सरकार ने सही मायनों में भूतपूर्व सैनिकों के लिए एक रैंक, एक पेंशन को लागू किया। जबकि कांग्रेस के लिए इसके मायने ही एकदम अलग हैं। नैशनल कॉन्फ्रेंस के नेता उमर अब्दुल्ला ने ट्विटर पर उनकी बात का जवाब दिया। अब्दुल्ला ने लिखा कि देश ओडोमॉस (ओवरडोज ऑफ ओनली मोदी ओनली शाह) से बुरी तरह त्रस्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका तात्पर्य मोदी और शाह की जोड़ी

### भरोसे की बात

पिछले दिनों आईआईटी-बंबई में आयोजित एक कार्यक्रम में सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश न्यायमूर्ति चेलमेश्वर ने कहा कि उन्हें आयोजकों द्वारा माइक्रोफोन पर कही जा रही बातें सुनने में तकलीफ का सामना करना पड़ रहा है। उन्होंने कहा कि यह इस सभागार से जुड़ी समस्या हो सकती है लेकिन उन्हें पूरा यकीन है कि आईआईटी में कोई न कोई तो इस समस्या का हल तलाश कर ही लेगा। जाहिर है उन्होंने स्पष्ट रूप से वहां मौजूद छात्रों की प्रतिभा पर अपना भरोसा ही जताया था।

## आपका पक्ष

### वंदे मातरम एक्सप्रेस और यात्रियों की भीड़

रेलवे ने ट्रेन 18 का नाम बदल कर वंदे मातरम एक्सप्रेस कर दिया है। यह सेमी हाई स्पीड ट्रेन शताब्दी ट्रेनों की जगह लेगी। मेक इन इंडिया के तहत निर्माण हुए 18 डिब्बों की इस ट्रेन की लागत 97 करोड़ रुपये है। ट्रेन आरंभ में नई दिल्ली से वाराणसी के बीच चलेगी। वाराणसी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का संसदीय क्षेत्र है। ट्रेन के परीक्षण के दौरान इस पर पत्थर फेंके जाने की घटना हुई थी जिससे डिब्बे के खिड़की का कांच टूट गया था। ट्रेन के डिब्बे में आधुनिक तकनीक का इस्तेमाल किया गया है। रेलवे के लिए ट्रेन 18 अथवा वंदे मातरम ट्रेन एक उपलब्धि है। इससे पूर्व रेलवे द्वारा ट्रेनों के परिचालन में कई प्रयोग किए जा चुके हैं। पूर्व रेल मंत्री और पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने अपने कार्यकाल में दुरंतो एक्सप्रेस का परिचालन आरंभ किया था। इस ट्रेन में यात्रा शुरू करने वाले स्थान से गंतव्य स्थान तक का ही टिकट दिया जाता है। इससे आरंभ से गंतव्य स्टेशनों के बीच के किसी स्टेशन के लिए यात्रा नहीं हो पाती है। दुरंतो में इस प्रावधान से इसकी लोकप्रियता नहीं बढ़ पाई। इसके बाद रेलवे ने इसे तय स्टेशनों में स्टॉप देने का फैसला किया जिससे इसकी मूल भावना खत्म हो गई। शताब्दी एक्सप्रेस कम समय में दूरी तय करने के लिए काफी लोकप्रिय हुई है। बहरहाल रेलवे को नई ट्रेनों के साथ-साथ पहले से चल रही ट्रेनों की सुधि लेनी चाहिए। रेलवे को नई ट्रेनों के बजाय पहले से चल रही ट्रेनों में भीड़ कम करने की दिशा में कार्य करना चाहिए। आरक्षण चार महीने आरंभ तो हो जाता है लेकिन इसके आरंभ होने के साथ सीटें भर जाती हैं। रेलवे को भीड़ वाली ट्रेनों के फेरे बढ़ाने या एक ही दिन में उसी मार्ग पर कई ट्रेन चलाने की जरूरत है जिससे भीड़ कम की जा सके।

*किशोर कुमार, नोएडा*

**रेलवे को नई ट्रेनों के परिचालन के साथ पहले से चल रही ट्रेनों को भी दुरुस्त करना चाहिए**

### न्यूनतम आमदनी की अवधारणा

कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने राजस्थान में आयोजित एक जनसभा में गरीबों को न्यूनतम आमदनी देने की घोषणा की है। लोकसभा चुनाव से पूर्व यह कांग्रेस की बड़ी घोषणा है। कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने कहा कि कांग्रेस की सरकार बनने पर देश के सभी गरीब व्यक्तियों को न्यूनतम आमदनी दी जाएगी। सर्वप्रथम देश के बड़े नेताओं को ऐसी लोकलुभावन घोषणा नहीं करनी चाहिए। अगर गरीबों को न्यूनतम आमदनी देने की शुरुआत की जाएगी तो वे गरीब कभी भी गरीबी से उबर नहीं पाएंगे। अगर उन्हें आजीविका के साधन मुफ्त में मिलेंगे तो संभव है कि वे अधिक मेहनत नहीं करना चाहेंगे जिससे गरीबी से उबर सकें। दूसरा पहलू यह है कि गरीबी का पैमाना क्या होगा। वर्तमान सरकार सालाना तीन लाख रुपये आमदनी वाले व्यक्ति से कर वसूल रही है। गरीब सवर्ण आरक्षण में गरीबी का पैमाना 8 लाख रुपये सालाना रखा गया है। ऐसे में कांग्रेस न्यूनतम आमदनी के लिए आमदनी का पैमाना क्या रखेगी। अंत में अगर कांग्रेस न्यूनतम आमदनी देना भी चाहती है तो वह अपने पार्टी फंड से राशि दे, क्योंकि देश का पैसा देश के विकास कार्य में खर्च होना चाहिए, न कि नेताओं के चुनावी वादों में खर्च होना चाहिए।

*मोहित कुमार, नई दिल्ली*

**पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।**